इकाई 6 विचारधारा

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे:

- विचारधारा को परिभाषित करने की जटिलताएं,
- विचारधारा के सूक्ष्म भेद (अर्थभेद) और इनको समझने के तरीके,
- विचारधारा पर विभिन्न दृष्टिकोणों से लेखन के मुख्य चरण,
- विचारधारा के विश्लेषण के रूप में नवीन तत्व,
- विचारधारा की प्रकृति, भूमिका एवं कार्य,
- धर्म एवं विचारधारा का समाज में महत्व,
- उत्तर-गुप्त शताब्दियों में भूमि-अनुदानों की दार्शनिक पृष्ठभूमि; और
- सहस्राब्दि में भारत में विशिष्ट धार्मिक विकास और विचारधारा के रूप में कार्य करने की उनकी क्षमताएं।

6.1 प्रस्तावना

यह इकाई विचारधारा से संबंधित है, जिसमें तीन मुख्य मुद्दों का विवेचन किया गया है। प्रथम, विचारधारा के सैद्धांतिक आयाम इसके अध्ययन के सभी दृष्टिकोणों का ध्यान रखते हैं। यह प्रत्येक मामले में विशिष्ट योगदान का वर्णन करती है। दूसरे, इस इकाई में धर्म एवं विचारधारा का समाज में स्थान निर्धारित करने की कोशिश की गई है। अंत में, विचारधारा की सैद्धांतिक समझ को भारतीय परिवेश में देखा गया है। इस संदर्भ में, मुख्य ध्यान उत्तर-गुप्त शताब्दियों में विचारधारा के प्रकृति एवं भूमिका पर केन्द्रित है परंतु पूर्व-गुप्त सहस्राब्दि की कतिपय मुख्य धार्मिक विशिष्टताओं का भी विवेचन किया गया है। इस ओर, व्यापक रूप से धनाकर्षण किया गया है कि विचारधारा का अध्ययन, इसके द्वारा जनता को प्रभावित करने की क्षमता के परिप्रेक्ष्य में किया जाए।

6.2 विचारधारा : विविध दृष्टिकोण

विचारधारा की धारणा समाजिक-राजनैतिक चिंतन एवं विचारों के इतिहास की सर्वाधिक विवादास्पद धारणाओं में से एक है। विचारधारा के विभिन्न घटकों की समझ, जिस दृष्टिकोण से इसका अध्ययन किया जाए, इस पर निर्भर करती है। ये दृष्टिकोण विविध हैं:

- इसे ज्ञान की एक प्रणाली के रूप में देखा जा सकता है,
- विद्वानों ने विचारधारा के समाजशास्त्रीय घटकों पर महत्व दिया है, और
- विचारधारा के अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को अपनाने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।

सामाजिक चिंतन की एक संकल्पना के रूप में विचारधारा का विवेचन करने से पूर्व विचारधारा का एक संकल्पना एवं एक राजनीतिक मत, दोनों रूपों में भेद करना आवश्यक है। विचारधारा का इसकी प्रकृति एवं कार्यों संबंधी विवेचन, इसके राजनीतिक मतों के निकाय के विवेचन से भिन्न है, यथा अनुदारवाद, उदारवाद, समाजवाद इत्यादि।

6.2.1 विचारधारा ज्ञान की एक प्रणाली के रूप में

प्रारंभिक धारणाओं में से एक के अनुसार "विचारधारा" की अभिव्यक्ति एक राजनीतिक विधान का उल्लेख करती है, जो सभी विज्ञानों के सुव्यवस्थित आधारों की परख एवं उनकी निष्पक्ष अनुप्रयोग की गारंटी से संबंधित है। इसकी मूल परिकल्पना प्रसिद्ध ब्रिटिश चिंतक फ्रांसिस बेकन (1561-1626) के समय से की जाती है। उनका मत था कि विज्ञान के विकास की गारंटी केवल तभी हो सकती है जब वैज्ञानिक चिंतन की भ्रामक विचारों से सुरक्षा की जाए। अपने "व्यामोह" (भ्रान्ति के छायाभास) के सिद्धांत के आधार पर बेकन ने इस पर प्रकाश डाला कि मानव विवेक वास्तविकता तक क्यों नहीं पहुंच पाता।

बेकन ने चार व्यामोह बताए जो मनुष्य को अधिक प्रभावित करते हैं। कबीलाई व्यामोह वास्तविकता पर समुचित रूप से विचार करने की असमर्थता निरूपित करता है। यह आधारभूत संज्ञानात्मक अवरोध, जो सभी मनुष्यों के लिए समान है, प्राकृत व्यामोह से और गहन हो जाता है। मनुष्य विलगित रूप से गुफा-निवासियों की भांति प्रतीत होते हैं जो बाह्य-जगत को केवल अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा करते हैं। लोकगत व्यामोह, वे भ्रान्त-धारणाएं हैं जो व्यक्तियों के समागम में भाषा की अशुद्धता से उत्पन्न होती हैं। अंत में, वैचारिक व्यामोह जिसमें सत्ता, परम्परा, परिपाटी एवं असंगत धारणाओं द्वारा अनुकूलित भ्रान्तियाँ होती हैं। अतः बेकन का "व्यामोह" का सिद्धांत-विचारधारा के सिद्धांत का एक प्रारंभिक प्रयास प्रदर्शित करता है कि बोध, संकल्पशक्ति, समागन एवं पूर्वाग्रह वे कारक हैं जो विशुद्ध संज्ञान की प्रक्रिया में अवरोध पैदा करते हैं। केवल तर्क को संयमित करके ही निष्पक्ष ज्ञान और साथ ही सत्य की प्राप्ति की जा सकती है।

बेकन की यह परिकल्पना अठारहवीं सदी के उत्तरकालीन फ्रांसीसी विचारकों (कौंडिलक, सबानिस और डेन्ट्रासी) के आधार बनी, जिन्होंने दर्शनशास्त्र के संदर्भ में वही दृष्टि अपनाई जो इस ब्रिटिश विचारक ने विज्ञान के लिए अपनाई। इन विचारकों की मूल कल्पना यह थी कि क्षमताएं (बोध, याद्दाश्त, निर्णय) संवेदिक आधार पर निर्भर करती हैं। संवेदनों के संबंध में विचारों की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन ही, संज्ञान एवं निर्णय की प्रक्रिया में आने वाली त्रुटियों के विरुद्ध गारंटी है। भ्रामक विचार समाज में कतिपय प्रभुत्व के लिए दावे प्रस्तुत कर सकते हैं; वास्तव में इनके पक्षधर सत्तासीन व्यक्ति भी हो सकते हैं। परिणामतः विचारकों को अपनी वैज्ञानिक विधि का उपयोग धर्म एवं शासकीय-राजनीतिक विचारों की समीक्षा करने के लिए करना चाहिए। विचारधारा, इस संदर्भ में एक विशुद्ध वैज्ञानिक प्रयास है जो सत्ता के किसी भी रूप का प्रबल विरोध पेश करती है। तथापि, क्रान्ति के पश्चात फ्रांस में धर्मों एवं राजनीतिक विचारों की समालोचना को सामाजिक स्थिरता के लिए हानिकर समझा गया। विचारधारा को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा एवं वैचारिक चिंतन को विध्वंसक समझते हुए अस्वीकार किया गया। उदाहरण के तौर पर नेपोलियन ने भर्त्सनात्मक अर्थ में विचारकों को ऐसे अंधे उपासक एवं सामान्य बुद्धि से रहित ऐसे लोगों के रूप में देखा जो तथ्यों की अपेक्षा विचारों के संसार में मग्न हैं।

6.2.2 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

जर्मनी के सी. डब्ल्यू. फ्रोलिश (C.W. Frohlich) ने 1792 में पहली बार कहा कि मानव-चिंतन सामाजिक संबंधों पर निर्भर करता है। वह आगे आग्रह करता है कि सम्पति-संबंधों में परिवर्तन के आधार पर धर्म एवं तत्वमीमांसा की समीक्षा इसके तर्कसंगत-निष्कर्ष तक की जाए। फ्रोलिश के अनुसार केवल सम्पति-विहीन समाज ही सही चिंतन एवं नैतिक क्रियाओं के संभव बना सकता है। यह विचारधारा के सवाल के एक पक्ष को सामने रखता है, जिसे मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा सुव्यवस्थित रूप से विकसित किया गया।

विचारधारा की धारणा के अध्ययन में कार्ल मार्क्स एवं फ्रेंडरिख एंगेल्स का महान योगदान है। उन्होंने विचारधारा को मिथ्या सोच की प्रणाली, वर्गीय स्थिति का कथन एवं वर्गीय शासन को समर्थन देने वाले विचार के रूप में

माना। विचारधाराएं गौण एवं काल्पनिक होती हैं, क्योंकि ये अधिसंरचना का ही एक हिस्सा हैं और मूलभूत रूप से भौतिक-आर्थिक "आधार" का ही प्रतिफल हैं।

मार्क्स एवं एंगेल्स ने विचारधारा को भर्त्सनापूर्ण अर्थ प्रदान किया क्योंकि उन्होंने इसे तर्क के कपटपूर्ण उपयोग, चेतन एवं अचेतन रूप से शासक वर्ग की स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर देखा। "वह वर्ग", जो समाज को शासित करने वाली भौतिक शक्ति है, "साथ ही यह इसकी बौद्धिक शक्ति भी है"। एंगेल्स के कथनानुसार विचारधारा "मिथ्या-चेतना" को व्यक्त करती है।

विचारधारा की ऐसी धारणा रखते हुए मार्क्स एवं उनके सहयोगी फ्यूअरबाख़ (Feuerbach) (एक जर्मन दार्शनिक) की धार्मिक परिकाल्पनिक विश्व के प्रक्षेपी चरित्र संबंधी अंतर्दृष्टि से लाभान्वित हुए। उन्होंने धर्म में चेतना को आवश्यक रूप से मिथ्या-रूप, जो सामाजिक संबंधों से उत्पन्न होती है, को रेखांकित किया जो मानव-आवश्यकताओं और उन्हें संतुष्ट करने के लिए उपलब्ध साधनों के मध्य अंतर्विरोध से अनुकूलित होती है। (मैक्स वेबर जर्मनी में धर्म के तर्काधार को इसी अंतर्विरोध में परख चुका था — देखें भाग 6.2.3)। मार्क्स के लिए विचारधारा की समीक्षा केवल धर्म का प्रतिवाद ही नहीं, वरन् इससे बढ़कर थी, क्योंकि धर्म मनुष्य के साहित्य से संबंध रखता है — यह विशिष्ट मानवीय विशेषताओं का प्रतिबिम्ब है जिसका उद्भव निश्चित समाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों के अधीन हुआ है। धर्म सामाजिक व्यवस्था की "अभिव्यंजना" और इसके विरुद्ध "प्रतिवाद" के रूप में समझा जाता है। इस प्रकार धर्म की भूमिका न केवल राजनीतिक यथास्थिति को उचित ठहराए जाने में अनावृत्त होती है, बल्कि इसे इसके नकारात्मक पूर्वकल्पित कर्तव्य के संदर्भ में भी देखा जाता है, और सामाजिक परिस्थितियों की समीक्षा में इसे सम्मिलित किया जाता है जिनके लिए वैचारिक स्पष्टीकरण आवश्यक है। उदाहरणार्थ, प्रबुद्ध व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों की रक्षार्थ आने वाले ज्ञान का विरोध करता है। एक ऐसे समाज में धर्म की समीक्षा, जहां इसकी शक्ति-राजनीतिक भूमिका है, वस्तुतः राजनीतिक यथास्थिति की समीक्षा है।

मार्क्स एवं एंगेल्स ने अपने विचारों को सामाजिक-आर्थिक प्रणाली पर आधारित कर एक ऐसा मुद्दा उठाया, जो कार्ल मानहीम (Karl Mannheim) के शब्दों में "ज्ञान-समाजविज्ञान" के नाम से जाना गया, अर्थात् सामाजिक आधारों, प्रतिबंधों, विविधताओं और विचारों के विरूपण का अध्ययन। तथापि, मार्क्स से हटकर तथा वेबर से प्रभावित हो मानहीम ने प्राथमिक तौर पर वर्गीय-दृष्टिकोण को तिलांजलि दे दी एवं विचारधारा को पूर्णतः सामाजिक-संचरना विशेषतः राजनीतिक दलों पर आधारित किया।

दो प्रारंभिक यूरोपीय समाजशास्त्री — मोस्का (Mosca) और परेटो (Pareto) — बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हुए भी मार्क्स से असाधारण रूप से मिलते-जुलते निष्कर्षों पर पहुंचे। दोनों ने सामाजिक विश्लेषण के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण में विश्वास किया। मोस्का के अनुसार, किसी भी समाज की निर्णायक विशिष्टता उसका शासक वर्ग है। एक समाज की कला, संस्कृति, राजनीति, धर्म इत्यादि सभी प्रधान सामाजिक स्तर से निर्धारित होते हैं। इसीलिए सामाजिक-विश्लेषण शासक-वर्ग से ही प्रारंभ और समाप्त होना चाहिए। शासक "राजनीतिक सिद्धांतों" या "विचारधाराओं" में कौशलपूर्ण जोड़-तोड़ द्वारा अपने शासन को कायम, स्थायी, बुद्धिसंगत बनाते हुए इसे उचित सिद्ध करते हैं। परेटो सम्पूर्ण मानव-आचरण को दो श्रेणियों में विभाजित करता है — तार्किक एवं अतार्किक। इस अर्थ में कि क्या यह साध्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उपयुक्त साधनों का प्रयोग करता है। वह मानव-आचरण में असंगतता के प्रचलन पर बल देता है। वह आगे कहता है कि मानव-व्यवहार के महत्वपूर्ण अंश, चेतना के स्तर के नीचे सोई हुई अतार्किक प्रेणाओं द्वारा प्रोत्साहित एवं पोषित किए जाते हैं। उसके अनुसार, वर्जनाओं, जादू एवं मिथकों की सभी समाजों में भरमार है। राजनीतिक क्षेत्र में संहिताएं, संविधान, घोषणा-पत्र और योजनाएं तर्कसंगत व्यवहार की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। ऐसा अन्य बातों के अलावा इसलिए है क्योंकि इन्हें अस्पष्ट, अत्यधिक, आलंकारिक एवं बहुत ही निरर्थक शब्दावली में व्यक्त किया जाता है।

इस प्रकार मोस्का एवं परेटो के समाज के विवेचन में विचारधारा एक प्रमुख परिवर्त्य है। "मिथक", "राजनीतिक नियम" या "व्युत्पत्ति" के समानार्थ प्रयुक्त होने वाली विचारधारा, मानव समाज की मार्ग-दर्शिका एवं सामाजिक समैक्य प्राप्त करने के मुख्य साधन के रूप में देखी जा सकती है।

समकालीन समाजशास्त्रियों में पार्सनस (Parsons) विचारधारा को "किसी भी समूह के सदस्यों द्वारा सामूहिक रूप से धारित की गई एक अनुभवमूलक विश्वास प्रणाली" के रूप में परिभाषित करता है। यह समुदाय को आपस में जोड़ती है एवं इसके मूल्य-दिग्विन्यास को वैधता प्रदान करता है। इससे भी महत्वपूर्ण, विचारधारा में विरूपण जोड़-तोड़ के तत्व भी निहित होते हैं।

डेनियेल बेल विचारधारा के संदर्भ में "कार्यात्मक" दृष्टिकोण का प्रतिपादक है। इसमें:

- क्रिया दिग्विन्यास,
- तर्कसंगति को प्रोत्साहित या नष्ट करने की सामर्थ्य,
- सामाजिक समैक्य प्राप्त करने की क्षमता; और
- मूल्य समाकलन अंतर्निहित हैं।

विचारधारा की "कार्यात्मक" प्रकृति, सामाजिक चेतना के उन रूपों से भी है, जो किसी भी वर्गीय समाज के उत्पादन के शोषणकारी संबंधों को बनाए रखने में गठित किए जाते हैं। विचारधारा का सामान्य कार्य, भ्रमिक सामाजिक संबंधों एवं वर्ग प्रभुत्व के द्वारा सामाजिक सम्बद्धता को बनाए रखना है। इस प्रकार, विचारधारा सामान्य तौर पर चेतना का एक भ्रमिक रूप है। सामाजिक चेतना के अंग के रूप में, विचारधारा सामान्य रूप से सामाजिक संरचना में प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती है। तथापि, विचारधारा चेतना से स्वतः स्फुटित नहीं होती। दूसरे शब्दों में, चेतना (एक विकासात्मक अर्थ में) विचारधारा में परिवर्द्धित नहीं होती है। सबसे पहले विचारधारा के उद्भव का एक भौतिक आधार होता है। इसके कार्य का विवेचन, सामाजिक संरचना की समग्रता के अंतर्गत उत्पादन के सामाजिक संबंधों को लक्ष्य करते हुए किया जाता है। अनिवार्यतः, वर्ग संबंधों के संबंध में अन्वेषक यह सोचने को बाध्य है कि विचारधारा किसके हित में है। यह एक विशिष्ट सामाजिक संरचना है जिसका एक अंग विशिष्ट विचारधारा है एवं इसके उपयुक्त एक वर्ग-संघर्ष है, जो उस विशिष्ट विचारधारा के चरित्र को निर्धारित करता है।

संक्षेप में, समाजशास्त्री दृष्किोण मुख्यता विचारधारा के एक समाज निर्धारित विचारों की प्रणाली से संबंधित है। लेकिन आवश्यक सत्य-मूल्य से रहित है। परन्तु इसमें सामाजिक समैक्य, नियंत्रण, गतिशीलता और जोड़-तोड़ में विचारधारा के प्रबल सामर्थ्य को रेखांकित किया गया है। इसके साथ ही, विचारधाराएं किन्हीं विशेष उद्देश्यों और मूल्यों को उचित सिद्ध करने (या अस्वीकृत करने) और राजनीतिक-सत्ता को वैधता प्रदान करने (या भर्त्सना करने) में प्रयुक्त हो सकती है। कुछ समाजशास्त्री विचारधारा को अप्रतिष्ठाजनक अर्थ में देखते हैं, जबकि अन्य इसका तटस्थ भाव से अध्ययन करते हैं।

6.2.3 मनो-सांस्कृतिक दृष्टिकोण

मनोवैज्ञानिक सिद्धांत विचारधारा को मुख्यतया समाज अथवा मनोविज्ञान प्रेरित व्यक्तिगत तनाव एवं दुश्चिंता को नियंत्रित करने के साधन के रूप में देखते हैं। सिगमंड फ्रायड (Sigmund Freud) एवं फ्रांसिस सटन (Francies Sutton) इस दृष्टिकोण के मुख्य प्रतिपादकों में से थे।

फ्रायड ने धर्म और विचारधारा में समानता बताते हुए कहा : "धार्मिक मत भ्रमपूर्ण है, वे प्रमाण नहीं मानते और उन्हें सत्य मानने या उसमें विश्वास करने के लिए किसी को भी बाध्य नहीं किया जा सकता..."

धार्मिक विचारों की क्षमता इस मायने में है कि यहः

- इच्छा-पूर्ति की क्रिया का निष्पादन करती है,
- व्यक्ति-विशेष को संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान करती है,
- सहजवृत्तिक व्यवहार को नियंत्रित एवं मनुष्य को अपराध-बोध से मुक्त करती है, और
- समाज से मनुष्य की असंबद्धता को प्रभावहीन करती है।

फ्रायड द्वारा प्रयुक्त "धर्म" को "विचारधारा" द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने को, उनके इस वक्तव्य से और बल मिलता है:

"धार्मिक मतों की भ्रांतियां स्वीकृत कर लेने के पश्चात, हमारे सम्मुख एक नया प्रश्न उठ खड़ा होता है : क्या सभी सांस्कृतिक प्रतिमान, जिन्हें हम बहुत महत्व देते हैं एवं जिनसे हम अपने जीवन को नियमित होने देते हैं, भी समान प्रकृति के हैं? क्या उन मान्यताओं को, जो हमारी राजनैतिक संस्थाओं का नियम करती हैं, भी इसी प्रकार भ्रान्तियां कहा जाए?"

सटन व उनके सहयोगी विचारधारा की धारणा को सामाजिक भूमिकाओं द्वारा जनित तनाव के जवाब के रूप में प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति प्रतिदिन अपने कर्तव्यों को निभाते हुए, परस्पर विरोधी अपेक्षाओं एवं चिंताजनक स्थितियों का सामना करता है। विचारधारा एक विचार-प्रणाली है जो मनुष्यों को तानव का सामना करने के योग्य बनाती है।

ऐसा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें मैक्स वेबर द्वारा आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के "धार्मिक-लंगरगाह" पर महत्व को याद दिलाता है। प्रमुखतः क्योंकि "धर्म" मनुष्य का अभाव और वंचना की स्थितियों में मुक्तिदाता रहा है। वेबर ने सोचा कि विशिष्ट धार्मिक अभिलक्षण न केवल सम्बद्ध सामाजिक एवं आर्थिक परस्थितियों से आंशिक रूप से स्वतंत्र हैं, बल्कि जीवन आचरण एवं "आर्थिक आचार-शास्त्र" का धार्मिक निर्धारण भी एक प्रमुख पहलू है। इस प्रकार, वेबर का एक प्रतिमार्क्सीय दृष्टिकोण था।

यद्यपि विचारधारा और तनाव के मध्य कुछ संबंध हैं, वास्तविक अनुबंध किसी प्रकार से स्पष्ट अथवा सरल नहीं है। ऐसा इस कारण है क्योंकि व्यक्ति कई तरीकों से तनाव के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकते हैं। अतः विचारधारा दबाव के प्रत्युत्तर का केवल एक तरीका है। विश्वास प्रणालियां हैं।

विचारधारा के मनो-सांस्कृतिक दृष्टिकाणों के अंतर्गत लियोन् (Leon Dion) विचारधारा को "एक लगभग समग्र सांस्कृतिक एवं मानसिक संरचना के रूप में निर्दिष्ट करता है।" इससे उसका तात्पर्य प्रतिमानों और मूल्यों के एक ऐसे प्रतिरूप से है जो वस्तुनिष्ठ (सांस्कृतिक) और व्यक्तिनिष्ठ (मानसिक) दोनों ही है। क्लिफोर्ड गीर्ज़ (Clifford Geertz) इसे प्रतीकों एवं प्रतीकात्मक क्रिया के रूप में परिभाषित करता है। उसके लिए विचारधारा, तनाव के

प्रति केवल मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया से बढ़कर है; इसमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का भी समावेश है। मोटे तौर पर, विचारधारा एक सांस्कृतिक प्रतीक-प्रणाली है जो मनुष्य को उसके राजनैतिक जीवन का मार्ग-निर्देशन करती है : "विचारधाराएं चाहे और कुछ भी हों··· वे बहुत स्पष्ट तरीके से जटिल सामाजिक वास्तविकता के नक्शे एवं सामूहिक विवेक के निर्माण के मैट्रिक्स हैं।"

हमने विचारधारा की धारणा के संदर्भ में कई दृष्टिकोणों को रेखांकित एवं कुछ विस्तार तक उनका अध्ययन किया। प्रत्येक दृष्टिकोण विचारधारा की संकल्पना के एक भिन्न आयाम पर प्रकाश डालता है : सम्मिलित रूप से ये अपनी असाधारण शानदार विरासत उजागर करते हैं। विचारधारा एक भावयुक्त, मिथक-संतृप्त, कार्य-सम्बद्ध आस्थाओं और मूल्यों की प्रणाली है, जो मनुष्यों और समाज, वैधता एवं सत्ता से संबंधित है। विचारधारा के मिथकों और मूल्यों का संचारण सरल तरीके से प्रतीकों द्वारा किया जाता है। विचारधारा में जन-गतिशीलता, हेर-फेर और नियंत्रण की उच्च क्षमता होती है, इस संदर्भ में विचारधाराएं संघटित विश्वास प्रणालियां हैं।

बोध प्रश्न 1

1) बेकन द्वारा उल्लिखित चार प्रकार के व्यामोहों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

2) मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा "विचारधारा" को किस प्रकार समझा गया? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) परेटो द्वारा परिभाषित मानव-आचरण की कौन-सी श्रेणियां हैं?

....

....

....

6.3 धर्म, विचारधारा और समाज

धर्म एवं विचारधारा का अभिनिर्धारण किए बिना, पिछले तीन दशकों के, विशेष रूप से मार्क्सवादियों के, लेखन ने इन दोनों के अध्ययन को सांस्कृतिक विधाओं और प्रक्रमों के रूप में पर्याप्त रूप से समृद्ध किया है।

धर्म और समाज के मध्य संबंधों के संदर्भ में मार्क्स-एंगेल्स के धर्म के प्रति अव्यवस्थित और बिखरे हुए संदर्भों का उल्लेख किया जा सकता है। मार्क्स ने 1844 में लिखा, "अधार्मिक आलोचना का आधार है- **मनुष्य धर्म की सृष्टि करता है,** धर्म मनुष्य की नहीं। धर्म मनुष्य की स्व-चेतना और आत्म-सम्मान है, जिसने या तो अभी तक स्वयं प्राप्त नहीं किया है या पुनः खो चुका है।"

मार्क्स के अनुसार, "मनुष्य दुनिया से परे, अमूर्त रूप से पड़ाव डाले नहीं है।" मनुष्य के लिए इस भ्रम से बाहर निकलने का एक ही तरीका है कि इसे उत्पन्न करने वाली सामाजिक परिस्थितियों को समाप्त किया जाए। जैसा कि मार्क्स ने प्रस्तावित किया है:

"**धार्मिक** दुःख एक ही समय वास्तविक दुःख की अभिव्यक्ति और वास्तविक दुःख के विरुद्ध **प्रतिवाद** है। उत्पीड़ित प्राणी धर्म की छांव में ठंडी सांस लेता है।"

अतः धर्म के विरुद्ध संघर्ष, आवश्यक रूप से उस समाज के विरुद्ध संघर्ष है, जो धर्म से महिमा-मंडित है और धर्म जिसकी दिव्य सुरभि है। इस अभिप्राय में धर्म "मनुष्य के लिये अफीम" बन जाता है। यहां मार्क्स विचारधारा की अपनी धारणा के एक निर्णायक मुद्दे का पूर्वानुमान करता है। यह कि धर्म मस्तिष्क में अपर्याप्त यथार्थता की क्षतिपूर्ति करता है; यह कल्पना में एक समनुगत (स्थिर विचारशील) समाधान को पुनर्स्थापित करता है, जो वास्तविक दुनिया की असंगतियों को सुलझाने के प्रयास में इसके परे भी चला जाता है। इस प्रकार, मार्क्स इसकी पुष्टि करता है कि वैचारिक प्रतिलोमता की यथार्थ की प्रतिलोमता के प्रति जवाबदेही होती है और पहले की दूसरे से व्युत्पत्ति भी होती है। जैसे कि वह कहता है "मनुष्य ही मनुष्य, राज्य, समाज की दुनिया है। ये राज्य, समाज एक प्रतिलोभ विश्व चेतना और धर्म का निर्माण करते हैं क्योंकि उनका एक प्रतिलोभ विश्व है"।

मुख्य रूप से, धर्म के समाजशास्त्र के प्रारंभिक प्रवक्ता दुर्खीम (Durkheim) ने विचारधारा के रूप में धर्म की बहस में योगदान दिया। मार्क्स की भांति दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि धर्म और विचारधारा का एक सामाजिक आधार होता है। यह आधार विशेष रूप से सामजिक संबंधों और संगठनों के प्रतिरूपों में होता है किंतु उनकी कुछ अंश तक स्वायत्ता भी होती है, जो संस्कृति से जुड़े विशिष्ट नियमों पर आधारित है।

मैक्स वेबर, दुर्खीम के एक कनिष्ठ समकालीन और बिस्मार्कीय जर्मनी की देन थे। वे न केवल भारत और चीन जैसे विशिष्ट देशों के धर्मों पर, बल्कि विशिष्ट धर्मों और धर्म के समाजशास्त्र पर अपने विस्तृत लेखन के लिए विख्यात है। धर्म के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उन्होंने सामाजिक संगठनों और धार्मिक विचारों के मध्य निम्न तीन प्रकार के संबंधों पर प्रकाश डालाः

क) विशेष आर्थिक हितों युक्त सामाजिक समूह, अक्सर दूसरों की तुलना में स्वयं को किन्हीं धार्मिक विचारों के प्रति अधिक ग्राह्य होते हैं। जहां शूरवीर लड़ाकू नायक, राजनैतिक अधिकारी वर्ग, आर्थिक रूप से अभिग्रहणशील वर्ग या अंत में, एक संगठित वर्ग जहां धर्म का प्रमुख स्थान था, कुल परिणाम वहां से भिन्न थे जहां भद्र बुद्धिजीवी निर्णायक थे। सामाजिक स्तर जिसमें उद्योगों में संलग्न कारीगर, व्यापारी , उद्यमी होते हैं, वे मुक्ति के सभी प्रकार के व्यक्तिगत प्रयत्नों की ओर आकर्षित होते हैं। सर्वत्र शासक-वर्ग ने धार्मिक मूल्यों की व्यवस्था पर एकाधिकार करने का प्रयास किया है। चिंतन, रहस्यानुष्ठानों या वैराग्य के साधनों द्वारा मुक्ति के लिए व्यक्ति विशेष की खोज या स्वतंत्र समुदायों की तलाश पर अत्यधिक संदेह किया जाता रहा है और उसको अनुष्ठानिक और धर्मतंत्रीय पद्धति से नियमित तथा नियंत्रित किया जाता रहा है। सत्तासीन पुरोहितवाद के हितों के दृष्टिकोण से, यह स्वाभाविक माना जाता था।

ख) धार्मिक विचार कुछ निश्चित समुदायों के निर्माण में सहायता करते हैं जैसे मठवादी व्यवस्थाएं, जादूगरों के संघ या एक पुरोहित वर्ग और ये समुदाय आर्थिक गतिविधियों में व्यापक रूप से संलग्न हो जाते हैं।

ग) कुलीन और जन-साधारण के बीच खाई की समस्या का विश्व के सभी बड़े धर्मों में से हर एक को, सामना करना पड़ा है। चीन के धर्म, विशेष रूप से कन्फुयशियसवाद और ताओवाद, के संदर्भ में वेबर कहता है कि कैसे कन्फुयशियसवाद सम्राट और प्रशासनिक क्षेत्र तक सीमित रहा और मोटे तौर पर जन-साधारण इससे वंचित रहा। इसके विपरीत, भारत में ब्राह्मणों ने, जो राज-पुरोहित, आध्यात्मिक सलाहकार, धर्मशास्त्री और धार्मिक मर्यादा के प्रश्नों पर विशेषज्ञ थे, "जादू की एक क्रमबद्ध बुद्धिसंगत व्याख्या" की। उन्होंने अपने स्वयं के सम्मानपूर्वक जीवन के अभिजात्य हितों और उनके द्वारा जन-साधारण की विपत्ति मिटाने की आवश्यकता के मध्य समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया।

वेबर ने निश्चय ही इस प्रकार के विश्लेषण द्वारा सामाजिक समुदायों और आस्था-प्रणालियों या विचारधाराओं के मध्य "निर्वाचित सापेक्ष बंधुताओं" का एक अत्यन्त सूक्ष्मग्राही और जटिल ब्यौरा प्रस्तुत किया है। तथापि, वेबर की "धार्मिक लंगरगाह" की धारणा और उसके लोगों के कार्यों का निर्धारण करने में "भौतिक हितों" के स्थान पर "विचारों" के फैलने के प्रभाव पर बल देना उसे प्रातिमार्क्सीय बना देता है।

विचारधारा के विश्लेषण में नवीन अध्ययन इसकी और व्याख्या करने में संलग्न है कि क्यों और कैसे विचारधारा एक विशेष रूप ग्रहण करती है और कैसे यह कार्य करती है। इससे दो महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं:

i) प्रथम, गीर्ज की "प्रतीकात्मक नियम की स्वायत्त प्रक्रिया" पर अधिक ध्यान दिया गया है, जिसका अध्ययन हम-पहले ही (देखें भाग 6.2.3) कर चुके हैं। इसके अंतर्गत विचारधाराओं का, दिलचस्प प्रतीकों की प्रणालियों और उन शैलियों के तहत जिसमें वे समस्याग्रस्त सामाजिक यथार्थता की युक्तिसंगत व्याख्या करते हैं, अध्ययन किया जाता है। इससे हमें प्रतीकात्मक प्रक्रियाओं की जटिल और दुरुह प्रकृति को समझने में सहायता मिली है, और जिसका केवल मिथ्याचेतना बनाम सत्य-चेतना के रूप में विभेदन नहीं किया जा सकता।

ii) द्वितीय, अब वर्गों और समुदायों के संदर्भ में विचारधारा के क्षेत्र (अध्ययन) को एक विवाद और "जीवंत संबंध" के रूप में कि एक यांत्रिक क्रिया के तौर पर देखा जाता है।

6.4 विचारधारा : प्रारंभिक भारतीय परिवेश

प्रारंभिक भारतीय धर्मों की विशिष्टताओं के विवेचन से पूर्व कतिपय मूलभूत सवालों का सामना करना जरूरी है। यदि विचारधारा को शासक (प्रभावी) वर्गों के हितों के अधीन समझा जाए, तो क्या हम इसी के साथ शासित वर्ग की विचारधारा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं? इन प्रभावी विचारों के अस्तित्व का क्या कारण है? क्या ये इसलिए प्रभावी हैं कि इनमें स्वयं शासित वर्ग की व्यापक सह-भागीदारी होती है? किन परिस्थितियों में शासित वर्ग के संदर्भ में विश्व उन व्याख्याओं का सहभागी हो जाता जो मौजूदा समाज-व्यवस्था को प्रभावी वर्ग की दृष्टि में ही नहीं, उनकी स्वयं की दृष्टि में उचित ठहराता है। क्या हम यह मानते हैं कि शासित वर्ग के विचार इसलिए विचारधारा नहीं बन सकते क्योंकि वे मौजूदा सामाजिक-व्यवस्था को औचित्य प्रदान नहीं करते?

यहां हम सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय धर्मों की कुछ अवस्थाओं (पहलुओं) पर प्रकाश डालेंगे। भारतीय परिदृश्य सभी प्रश्नों का समाधान नहीं कर पाएगा, फिर भी प्रारंभिक भारत में विचारधारा के रूप में धर्म के कार्य के प्राचलों (पैरामीटर) का निर्धारण करना उचित रहेगा।

प्रारंभिक काल में हड़प्पाकाल में शहरीकरण की वृद्धि के लिए धर्म का एक "तीव्रकारी कारक" अथवा उत्प्रेक होने के सवाल को हाल ही के कुछ विशेष अध्ययन में प्रमुखता दी गई है। धर्म को जिस प्रकार नकारात्मक साक्ष्य पर इसके लिए श्रेय दिया गया है, वह इतना स्पष्ट है कि उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार, इसे विचारधारा के सदृश्य समझने का प्रयास भी अतिशयोक्तिपूर्ण है। यद्यपि कतिपय सामाजिक वर्गीकरणों का अनुमान करना संभव है, किंतु कौशाम्बी के मताग्राही दावे, कि ब्राह्मण पुरोहितवाद का आदिरूप हड़प्पा के महानगरों में देखा जा सकता है, से सहमत होना मुश्किल है। यहां तक कि अन्य कांस्य युग सभ्यताओं के समकालीन केन्द्रों की समतुल्यता (समानांतरता) के संदर्भ में वी. गॉर्डन चाइल्ड द्वारा सुमेर के पुरोहिती राजाओं पर किए गए सुस्पष्ट अवलोकन की सहायता लेनी होगी, यथा यह आर्थिक व्यवस्था थी "जिसने ईश्वर को (अपने प्रतिनिधि द्वारा) एक बड़े पूंजीपति और ज़मीदार को उसके मंदिर के लिये नगर बैंक में परिवर्तित कर दिया। यह लोगों की अतिरिक्त अनाज उत्पन्न करने की क्षमता ही रही होगी, जिससे मोहनजोदड़ों, हड़प्पा और संभवतः कालीबंगा में भी विशाल अन्न भंडारकों की आवश्यकता पड़ी। इसी संदर्भ में आंतरिक एवं लंबी दूरी के स्थल मार्गीय और समुद्रीय व्यापारों की विस्तृत क्रियाविधि तथा प्रभावी प्रतीक लोथल का "भंडार-गृह" समझा जा सकता है, भी उल्लेखनीय है। ये निश्चय ही उन धार्मिक अभिव्यक्तियों का निर्माण करने में सहायक रहे होंगे जिनके बारे में हम अनुमान कर सकते हैं।

उत्तर वैदिक युग में मूल उत्पादकों और उत्पादन व्यवस्थापकों के अस्तित्व को विद्वानों द्वारा सामान्य तौर पर स्वीकार किया जाता है। हमारा कहना है कि न केवल इन दोनों के मध्य बल्कि अनुत्पादक (उत्पादन से न जुड़े) वर्गों के मध्य भी (ब्राह्मणों और क्षत्रियों) प्रतिद्वंद्विता थी। इस दूसरे संघर्ष की व्याख्या अतिरिक्त अनाज को हथियाने के संदर्भ में की जा सकती है। लेकिन क्या ये गौरवपूर्ण ब्राह्मणों की बलिदान संबंधी पद्धति और **उपनिषदों** की आत्म-विद्या क्रमशः ब्राह्मणों और क्षत्रियों की विचारधारा का निर्माण करती हैं? इन दोनों को शासक वर्ग की विचारधारा कहने के लोभ से शायद नहीं बचा जा सकता। तथापि, ऐसा चरित्र-चित्रण न केवल एकांगी है बल्कि इन धार्मिक-दार्शनिक व्यवस्थाओं के विकास के द्वंद्व-न्याय को भी नकारता है। यह कि इनमें से कोई भी अखंडित समान विचार नहीं है, विभिन्न बलिदानों के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। जैसे राजसूय की कई रस्मों में से केवल एक **रत्नाहविंशी** प्रथा यह बताती है कि कैसे कबीलाई और मातृक तत्व, वर्ग में मिला दिए गए हैं, और कैसे पुरोहितों के प्रभुत्व का स्थान क्षत्रियों द्वारा प्रतिस्थापित होता है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि बलिदानों ने सगोत्रता के आधार से परे विशाल समुदायों की स्थापना की ओर लक्ष्य किया। मगध के व्रत्य सरदारों का वैदिक समाज में प्रवेश विस्तृत धार्मिक अनुष्ठानों के साथ हुआ और निशाद के सरदार, जो स्थपति कहलाते थे, को उच्च-वर्गीय वैदिक अनुष्ठानों में प्रवेश मिला।

इसी प्रकार सामान्यतः यह भी स्वीकार किया जाता है कि ब्राह्मण संस्कृत रचनाओं के मुकाबले बौद्ध पाली ग्रंथ राजत्व की उत्पत्ति का भिन्न तर्क देते हैं। यह भी कि, ईसा पूर्व छठी-पांचवी सदियों के काल में गंगा घाटी के नए राजाओं की गैर-ब्राह्मणवादी धर्मों के प्रति कृपा-दृष्टि थी। किन्तु महात्मा बुद्ध के विचारों को क्षत्रिय विचारधारा के रूप में देखना एक अति सरलीकृत व्याख्या होगी। ऐसा केवल इसलिए नहीं कहा जा रहा है कि सभी संबंधित राजतंत्र निश्चय ही क्षत्रियों के हाथों में नहीं थे, लेकिन इसलिए भी कि यह प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के सामाजिक आधार को गलत ढंग से सीमित करेगा। महात्मा बुद्ध को किसानों और व्यापारियों द्वारा प्राप्त भौतिक संरक्षण के अलावा, जो निश्चित ही उच्च वर्ग के प्रभाव से मुक्त थे, बुद्ध की ब्राह्मणों के मध्य भी व्यापक प्रसिद्धि का ज्ञान न हो, ऐसी बात नहीं है।

अशोक का **धम्म**, जो शाब्दिक अर्थ में कुछ भी हो, धर्म हर्गिज नहीं है। शायद विचारधारा के निकट है, एक और विश्व-रूप प्रस्तुत करता है। यदि **धम्म** के आदेशों को समझा जाए तो हमें उस तथाकथित "दार्शनिक-राजा" और कलिंग युद्ध की महान घटना के "क्रांतिकारी" प्रभाव के घेरे से बाहर निकलना होगा। राज्य और साम्राज्य

की धारणा संबंधी नवीन अध्ययन "केंद्रीकृत" मौर्य साम्राज्य के मत का खंडन करते हुए, हमें व्यवस्था के आर्थिक तर्कशास्त्र की अनिवार्यता से परिचित कराते हैं तथा अशोक के धम्म में अंतर्निहित मुख्य कारकों को स्पष्ट करते हैं।

6.5 विचारधारा : उत्तर-गुप्त शताब्दियों में इसकी प्रकृति और भूमिका

चूंकि हमारा संबंध आठवीं और तेरहवीं शताब्दियों के मध्य समाज और संस्कृति की विस्तृत रूपरेखा के अंतर्गत विचारधारा से है, इसके कार्यों और भूमिका का आकलन करना उचित होगा। हम उत्तर गुप्त-शताब्दियों में भूमि-अनुदान के अर्थशास्त्र की प्रधानता पर बल देते आए हैं। क्या इसकी लगभग अखिल भारतीय विस्तार की संवृत्ति को विचारधारात्मक बल के रूप में देखा जाए? भूमि-अनुदान आखिर क्यों?

6.5.1 भूमि-अनुदानों का दर्शन

हमारे मुख्य स्रोतों में से एक, पुरालेखीय अभिलेखों, में एक असंगतता देखने में आयी है। एक तरफ वे, भू-भागीय शक्ति के लिए राजाओं की निर्दयता, हिंसा और लोलुपता के वृतांतों से भावपूर्ण हैं, जबकि दूसरी ओर, ये ही राजा ब्राह्मण आदाताओं के प्रति उदार भाव रखते हैं। शायद ये अनुदान राजाओं के मिथ्याभिमान (गर्व) के प्रदर्शन-मात्र थे। दाता और उसके पूर्वजों के लिए महिमायुक्त पदवियों सहित आडम्बरपूर्ण वंशावलियां राजनीतिक चाटुकारिकता के अतिश्योक्तिपूर्ण उदाहरण है। स्पष्टतया, इसमें स्वयं दानी राजाओं के स्वार्थ सम्मिलित थे। प्रकट रूप से इन विस्तृत बड़े उपहारों का उद्देश्य न केवल दाताओं बल्कि उनके पूर्वजों के लिए भी पुण्य अर्जित करना था।

यह कहा जाता है कि भूमि-अनुदानों से निःस्वार्थ ब्राहमणों को वित्तीय सहायता प्राप्त होती थी जो ज्ञान और शिक्षा के प्रसार के कार्य में संलग्न थे। यह भी कि ब्राह्मण एक सरल और सादा जीवन निर्वाह करते थे। यह अत्यधिक सरलीकृत तर्क है क्योंकि हम पहले ही (इकाई 5.6.1 और 5.6.4) देख चुके हैं कि ब्राह्मणों के व्यवसायों में विविघता प्रकट हो रही थी। ब्राह्मणों का पुरोहितों से ज़मींदारों में स्पष्टतः रूपांतरण हुआ — वे एक संपत्ति चाहने और सम्पत्ति पर अधिकार करने वाले वर्ग के रूप मे उभर रहे थे।

उल्लिखित पुरोलेखीय प्रमाण का एक महत्वपूर्ण आयाम, धर्मशास्त्रीय प्रदर्शनों और अभिलेखों में उपहार देने की शब्दावली के मध्य सामंजस्य है। दान (उपहार देना) की सम्पूर्ण धारणों में एक विचारणीय परिवर्तन हुआ। धर्मशास्त्र इस प्रकार संसार में किए गए पापों के लिए प्रायश्चित (पश्चाताप) को महत्व देते हैं। कल्पना कीजिए, कौन सा राजा पापों और अतिक्रमणों से मुक्त रहा होगा? आखिरकार, वे सब लूट, आगजनी और हत्याओं (विशेष रूप से युद्धों में) के लिए जिम्मेदार थे। विधि-निर्माताओं ने, जो बिना अपवाद ब्राह्मण होते थे, पापों और दंडों की एक श्रेणीगत प्रणाली और **महापतका** जैसी धारणा द्वारा लोगों में भय की भावना व्याप्त की। प्रायश्चित के सिद्धांत से जुड़े राजाओं की अपराध-बोध की भावना का ब्राह्मणों द्वारा शोषण किया जाता था। उनके द्वारा गायों, बैलों, भूमि और स्वर्ण के बड़े उपहार देने की सलाह दी जाती थी, यदि राजा अगले जन्म में स्वयं या अपने पूर्वजों के लिए एक कीड़े या निम्न पशुवृत जैसी दयनयी ज़िंदगी नहीं चाहते थे। सभी उपहारों में, भूमि का स्थान सर्वोच्च था। व्यास, जिसे पुरोलेखीय अभिलेखों में अधिकतर उद्धृत किया जाता, का यह मानना था कि भूमिदानकर्ता 16,000 वर्षों तक स्वर्ग में रहेगा। इसी तरह कई पुराण यह बताते हैं कि भूमिदाता के भाग्य में अप्सराओं का आनंदमय साथ रहेगा। ब्राह्मण विधि-निर्माताओं के लिए पवित्र ग्रंथ, गूढ़-सिद्धांत और परंपरागत कार्यों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि ये नीति-सूचक वक्तव्यों के साधन बन गए।

क्या वे राजा जिन्होंने भूमि के विस्तृत उपहार दिए, केवल ब्राह्मणों की धन लोलुपता के शिकार थे? निश्चय ही ऐसा नहीं है। राजनीतिक सत्ताओं के लिए वैधता की खोज एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था (इस विषय को खंड 3 में विस्तार से समझाया गया है, विशेष रूप से देखें इकाई 9.7, 10.4 और 11.5)। यहां इस संदर्भ में दाता और आदाता दोनों ही के हितों की पारस्परिकता को रेखांकित करना पर्याप्त होगा। प्रशस्तिकार (स्तुतिकर्ता) धर्मशास्त्रकार (विधि निर्माता) और पूरोहित, (राज दरबार में कार्यरत ब्राह्मण) सभी इस नई उपजी व्यवस्था में सहयोगी थे।

यह नई व्यवस्था उत्तर-गुप्त शताब्दियों की सांस्कृतिक लोकनीति (लोकाचार) में वैसे व्यक्त होती है? ऐसा प्रतीत होता है कि वैचारिक धरातल पर, उत्तर-गुप्तकाल में सम्पूर्ण उप-महाद्वीप में दो स्पष्ट उपभेद नज़र आते हैं, यथा भक्ति का प्रसार और तांत्रिक पद्धतियों का व्यापक प्रभाव। इनके इस विस्तृत प्रचलन की व्याख्या, उत्पादन की सामंतीय प्रणाली के विस्तार, जिसकी प्रतीक भूमि-अनुदान की धारणा है, के संदर्भ में की जा सकती है।

6.5.2 भक्ति और तीर्थयात्रा

छठी शताब्दी के मध्य से लेकर लगभग 500 वर्षों तक, शैव तथा वैष्णव संतों (क्रमशः नयनार और अलवार) तथा उनके अनुयायियों ने भक्ति को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनाया तथा प्रचारित किया। वे गाते-नाचते तीर्थ-स्थलों पर जाते थे। कुल मिलाकर, इसका स्वरूप प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के आदर्श ब्राह्मणवादी समाज की संरचना के

समान था। यह (भक्ति) छठी शताब्दी में पल्लवों के अधीन कांचीपुरम् क्षेत्र से उपजी, तथा नवीं शताब्दी के अंत तक तमिलाहम के पूरे भाग को पार कर चोलों, पाण्डयों तथा चेरों के सभी राज्यों को अपने प्रभाव में ले लिया। यदि हम एक नवीन विश्लेषण को आधार बनाएं तो उत्तर में भक्ति आंदोलन, जिसका प्रतीक प्रसिद्ध ***भगवत पुराण*** है, भी तमिल संतों के प्रोत्साहन का ही परिणाम था। आंदोलन के प्रसार में इसके मंदिर आधार का घनिष्ठ संबंध है। ये मंदिर अपने आर्थिक संरक्षण के लिए न केवल राजाओं तथा प्रमुख राज-जनों बल्कि समाज के प्रभावशाली लोगों द्वारा किए गए भूमि-अनुदानों पर निर्भर रहते थे। पल्लवों, चोलों, अलवारों और नयनारों पर कुछ नवीन लेखन, कावेरी घाटी में धान की खेती की बढ़ती महत्ता और फलस्वरूप ब्राह्मणवादी व्यवस्थापन, जो बदले में चोल शक्ति को बढ़ाने में सहयोगी रहा, पर प्रकाश डालते हैं। इसे स्पष्ट करने हेतु, कावेरी में मंदिर आंदोलन के प्रसार का अध्ययन किया जा सकता है। तीन प्रसिद्ध नयनारों यथा अप्पार, संबन्धार और सुंदरार ने क्रमशः 307, 384 और 100 भजन गाए जिनमें उन्होंने लगभग क्रमशः 126, 231 और 85 मंदिरों का जिक्र किया। इन 442 मंदिरों में से, 315 मंदिर चोल-युग से संबंधित थे, जो सभी कावेरी घाटी में केन्द्रित हैं (126 नदी के उत्तर में, जबकि 189 इसके दक्षिण में)। यहं मंदिर भक्ति आंदोलन सामंतवादी प्रमुखों और राजाओं द्वारा राज-शक्ति हासिल करने का एक प्रमुख साधन था। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर मंदिर तथा उसके संचालकों और दूसरी और राजा तथा उसके परिजनों के प्रति उपयोग में लाये जाने वाली शब्दावली और प्रतीकों में समानता थी।

उदाहरणार्थ—कोयिल महल और मंदिर दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, मुकुटधारी देवी-देवता मुकुटधारी राजा सदृश्य थे, पूजा पद्धति की संकल्पना राजा की सेना की पूजा पद्धति पर आधारित थी, देवी-देवता को स्नान करवाना, अभिषेक करना, शृंगार करना, आभूषण पहनाना—ये सब राजमहल की प्रथा के प्रतिरूप थे। मंदिरों को कर और भेंट राजाओं के समान ही दिए जाते थे क्योंकि महल की भांति मंदिर का निर्माण भी मंडपों, प्राकारों, द्वारपालों इत्यादि सहित किया जाता था। मंदिर की मुख्य देवी (या देवता) के साथ राजा के समान, सहयोगी और परिजन होते थे, जिनकी सेना के लिए संगीतज्ञों, नृतकियों, विदूषकों एवं मालाकारों की एक बड़ी जमात होती है। बहुविधता और अपने अधीनस्थों पर अधिकार जमाए सामंतों के सह-अस्तित्व रूप सामंती पिरामिड से तुलना करने पर भक्ति आंदोलन में भी हम बहुविधता और विभिन्न देवी-देवताओं के सह-अस्तित्व की स्पष्ट पहचान पाएंगे—प्रत्येक देवी (या देवता) अपने भक्तों के लिए मालिक (सामंत) का दर्जा रखता है। भक्त अक्सर देवी/देवता को ***अदैयार*** या ***ताम्बीरान*** से संबोधित करते हैं जिनका अर्थ "शासक" और "मालिक" है और स्वयं को ***अदियान*** अर्थात् गुलाम समझता है। ब्राह्मण-शक्ति के बढ़ने के दौरान महानता की निशानी यह थी कि आत्मा (मनुष्य) द्वारा अहंकार को त्यागकर "मालिक(ईश्वर)" के'दास के दास के दास" का स्थान ग्रहण करना चाहिए, जैसा कि कुलशेखर अलवार ने कहा। इसके साथ यह भी कहना होगा कि धार्मिक लागों ने सम्मिलित रूप से पुण्य कमाने, नियमित तीर्थ यात्राओं का कार्यक्रम विकसित किया। यह सर्वविदित है कि प्रारंभिक मध्यकाल का केवल ब्राह्मण साहित्य ही 400 से अधिक तीर्थों का वर्णन करता है और केवल महाभारत तथा पुराणों में 40,000 श्लोक तीर्थ, उपतीर्थ और उनसे संबंधित दंत कथाओं से, संबंधित है। और यही नहीं—इसमें न केवल बहुसंख्य ***स्थलपुराणों*** को ही किंतु ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण तीर्थ-केन्द्रों से संबंधित तीर्थों पर विशिष्ट सार-पुस्तिकाएं भी सम्मिलित की जा सकती हैं।

6.5.3 तंत्रवाद

उत्तर-गुप्त शताब्दियों में भक्ति के समान तंत्रवाद सभी धर्मों में व्याप्त था। इससे तथाकथित अतिनैतिकतावादी गैर-ब्राह्मण धार्मिक व्यवस्थाएं भी बच नहीं सकीं। आर. एस. शर्मा ने इसकी, मातृ (जननी) दैवी की उपासना-पद्धति के प्रचलन के संदर्भ में व्याख्या की है, जिसे भूमि-अनुदानों के कारण कृषि के विस्तार का परिणाम माना जा सकता है। इस विश्लेषण का एक सुंदर आयाम, पुरोहितीय संस्कृत तथा जनजातीय अवयवों की सांस्कृतिक अन्योन्यक्रिया है। हाल ही के, एक साहित्यिक तथ्यों पर आधारित अध्ययन के अनुसार ***मर्कण्डेय पुराण*** की ***देवी महात्म्या*** (लगभग छठी शताब्दी) संस्कृत में प्रकट होने वाला देवी का प्रथम बोधशील वर्णन है—इसके स्पष्टीकरण को संस्कृतिकरण के संदर्भ में खोजा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि देवी-पूजा की मूल-प्रेरणा स्रोत गैर-आर्यवादी और गैर-संस्कृतीय है। केवल मध्य प्रदेश में ही शक्ति मूर्तिकला के एक सर्वेक्षण में 400 प्रतिमाओं का ज्ञान होता है। उनमें से बहुत के नाम जैसे चारचिका, उमरी माता, बिजासनी देवी, बेहामाता, बिरासनी देवी इत्यादि उनकी लोकप्रिय जनजातीय देवियों के नामों को प्रदर्शित करते हैं।

6.5.4 वीर-स्तम्भ

हाल ही के कुछ वर्षों में, कुछ अत्यधिक प्रेरक और उत्साहवर्धक लेखन में मृत्यु की धारणा पर इसके कर्मकाण्डों, धार्मिक विश्वासों तथा रिवाज़ों, कला रूपों और सबसे बढ़कर सामाजिक-आर्थिक विकास के साथ संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। इनके परिणामस्वरूप उपमहाद्वीप के धार्मिक तथा कला-इतिहास के एक अंधकारमय क्षेत्र में एक विशिष्ट शैली के साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह अध्ययन वीर-स्तम्भों पर केन्द्रित है जो भारतीय उपमहाद्वीप के बहुत से भागों में पाए जाते हैं। इन स्मृति चिह्नों का 1500 वर्षों से भी अधिक लंबा और लगभग निरंतर इतिहास रहा है, जो ब्राह्मण तथा गैर-ब्राह्मण, दोनों धर्मों में मिलता है। ये स्थानीय रूप से ***विराग, नादूगल, पालिया, गोवर्धना-स्तम्भ, कीर्ति-स्तम्भ, छाया-स्तम्भ*** या केवल ***छतरियां, स्तम्भ*** देवली इत्यादि। इन

पट्टिकाओं या स्तम्भों को कई श्रेणियों में इनके संरक्षकों की धर्म-विधियों या पंथिक पद्धतियों और साथ ही धार्मिक एवं सामाजिक रिवाजों के आधार पर विभाजित किया गया है। ***छाया-स्तम्भ*** सबसे प्रारंभिक पुरातत्वीय प्रमाण में माना जाता है, और ऐसा लगता है कि इसकी जड़ें बौद्ध धर्म की सामाजिक पद्धति से है। केवल जैन अनुयायियों के मृत्यु संबंधी कर्मकाण्डों और पद्धतियों का प्रतिनिधित्व ***निसिधी*** करती है। ***विरागल*** या कम से कम इस शब्द का प्रचलन यदि दक्षिण भारत की परंपरागत भौगोलिक सीमाओं को नहीं तो धार्मिक सीमाओं को लांघता है। ***कीर्ति-स्तम्भ, पालिया, छतरी, देहली और स्तम्भ*** हिमालय और विध्यांचल के मध्य अधिकतर गुजरात और राजस्थान में पाए जाते हैं। वीर-स्तम्भों की शैली मे परिवर्तन स्मरण किए जाने वाले वीरों की प्रतिष्ठा में परिवर्तन को प्रतिबिंबित करता है। कालांतर में, उच्च जाति समुदायों के वीरों, जो अक्सर क्षत्रिय होने का दावा करते थे, का सुपरिष्कृत स्तम्भों द्वारा स्मरण किया जाने लगा। वीर के धार्मिक सम्प्रदाय का संकेत भक्ति मत के प्रभाव के कारण रहा होगा। अतिसंवेदनशील आधार पर यह माना जाता है कि स्थलाकृतिकीय और पारिस्थिकीय दृष्टि से इन स्मारकों की बहुलता उच्चभूमि भागों, घाटियों के दर्रों के आस-पास, परंपरागत रूप से समझे जाने वाले सीमांत क्षेत्रों, जो अक्सर प्रमुख चरागाही क्षेत्र होते हैं, वनों के परिसर और भारत के जनजातीय भू-भाग कहे जाने वाले क्षेत्रों में पायी जाती है। वीर-स्तम्भ, सिंधु और गंगा घाटियों के विस्तृत कृषि-भू-भागों और प्रायद्वीप के प्रचुर-कृषि युक्त डेल्टा क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम पाए जाते हैं। सीमांत क्षेत्र अक्सर मध्यवर्ती (प्रतिरोधक) प्रदेशों का कार्य करते थे, जहां राजनीतिक सुरक्षा अस्थायी होती थी और जहां राज्य की सेनाएं आवश्यक रूप से स्थानीय लोगों की रक्षा की जिम्मेदारी नहीं लेती थी। अतः सुरक्षा हेतु उन्हें अपने तरीकों पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसमें गांव के वीर (नायक) या गांव-प्रमुख मुख्य भूमिका निभाते थे···

यह सामरिक (सैनिक) कर्तव्यों के एक विकेंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था में विभेदीकरण को प्रकट करता है। चूंकि ये स्मृति चिह्न छठी शताब्दी के बाद के काल से प्रचुर संख्या में पाए गए हैं—इस कारण एक तरफ भूमि-अनुदानों के विस्तार और दूसरी ओर इन स्मारक-स्तम्भों के मध्य किसी प्रकार के सहसंबंधों और सामंजस्य का अध्ययन करना उचित होगा। यह निम्न मान्यताओं के संदर्भ में और भी आवश्यक है :

क) भूमि-अनुदानों की संवृद्धि कृषि के विस्तार से जुड़ी हुई है,

ख) स्मारक-स्तम्भ और भूमि-अनुदान दोनों ही साम्प्रदायिक एकीकरण की दिशा में उपयोगी तंत्र थे—पंधारपुर (महाराष्ट्र) में विथोबा के सम्प्रदाय में वीर-स्तम्भ को एक उपासना देवी के रूप में परिवर्तित करना; और

(ग) दोनों ही संवृत्तियां राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में भी उपयोगी रही है।

6.5.5 धर्म विचारधारा के रूप में—किसके लिए?

उत्तर-गुप्त शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों के धार्मिक-दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रमुख अभिव्यक्तियाँ जैसे भक्ति, तंत्रवाद, तीर्थयात्रा इत्यादि का प्रसार भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था की देन थे। इस प्रक्रिया में ब्राह्मणों को सर्वाधिक लाभ हुआ और जिन्होंने शायद चेतन रूप से समकालीन शासकों के साथ सहयोग कर इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की होगी, परंतु इसे केवल प्रभावी ब्राह्मण विचारधारा के संदर्भ में ही तर्कसंगत ढंग से नहीं समझा जा सकता। निश्चय ही, एक तरफ ब्राह्मणों और दूसरी ओर जनजातियों के मध्य सहजीवी संबंध को नकारना असंभव है। विचारों का आवागमन दोनों तरफ से था। प्रतिमा-संबंधी अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, जो अब तक केवल दिव्य प्रतिमाओं और उनके लक्षणों की पहचान, वर्णन और व्याख्या में संलग्न करते हैं। मुख्यतया कला-इतिहास के ही एक हिस्से के रूप में माने जाने वाले इन अध्ययनों को बृहत और लघु स्तरों पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के अभिसूचक के रूप में शायद ही देखा गया हो। प्रतिमा-विज्ञान को धर्म-इतिहास के ही एक हिस्से के रूप में मानते हुए, तमिल प्रदेश में वैष्णव प्रतिमा-विज्ञान पर एक नवीन कार्य, इसके विकास क्रम को पूर्व-पल्लवीय शताब्दियों की लोक-गतिविधियों और जन-जातीय संप्रदायों के एकीकरण द्वारा समझाने का प्रयास करता है। इसी प्रकार, एक आम अध्ययन मुरूगन के विकारा में सांस्कृतिक संलयन-प्रक्रिया और संस्कृति-संक्रमण के माध्यमों का एक सूक्ष्म-परीक्षण करता है। शैव कुल की इस महत्वपूर्ण उपासना देवी के विकास को दो सांस्कृतिक धाराओं—"संस्कृति" और "तमिल" के, बिना उनमें से एक की भी "अखण्डित या एक आयामीय" मानते हुए, के अभिसरण के रूप में देखा जाता है। दक्षिण-भारतीय शैव परंपरा के अंतर्गत बलिदान और दैवीय विवाह का एक विश्लेषण भी किया गया है। ऐसा उन कई परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया है, जो उनके निर्माण में सहयोगी रही हैं, जैसे वैदिक, महाकाव्यीय, पौराणिक, प्राचीन तमिल और दक्षिण लोक-प्रथाएं।

बौद्धों और जैन अनुयायियों के बारे में क्या कहें? भूमि-अनुदान व्यवस्था के प्रभावों से भी मुक्त नहीं थे। यद्यपि बौद्धों के प्रभाव का दायरा सिकुड़ रहा था, जैन धर्म के साथ यह बात नहीं थी। विशेष रूप से कर्नाटक, गुजरात और राजस्थान में उसका जन-मानस पर अच्छा प्रभाव था। परन्तु भक्ति, तांत्रिक पद्धतियां और तीर्थयात्रा की धारणाएं उनके मन के भी मुख्य अंग बन चुके थे। उत्तर-गुप्त कालीन दक्षिण भारत में तथाकथित "ब्राह्मण-किसान सहयोग" का विचार बहुत अपर्याप्त और बहुत अविश्वसनीय आधार पर लम्बित है। यहां तक कि यदि भक्ति की भूमिका का विचारधारा के रूप में पूरी तरह से मूल्यांकन किया जाए तो ब्राह्मण-राजा सहयोग के संरक्षण के काल में मंदिर-आंदोलन के ग्राम्य-आधारित होने की परिकल्पना अपूर्ण सिद्ध होती है। उदाहरण के तौर पर तमिलाहम में भी, जहां इस ग्राम्य-आधारित मॉडल को प्रयुक्त किया गया, विस्तृत आंतरिक व्यापार तंत्र के साथ ही साथ एक

महत्वाकांक्षी सामुद्रिक व्यापार का कार्यक्रम भी देखने में आया है। व्यापारियों और दुकानदारों का मंदिर-आंदोलन की वृद्धि में क्या योगदान था? शायद अलवारों और नयनारों की आक्रामक प्रवृत्ति से, विशेषतः प्रारंभिक कुछ सदियों में गैर-ब्राह्मण धर्म तमिलाहम से लगभग लुप्त हो गए थे, जिन्हें पहले वहां के समुदायों द्वारा सहयोग मिलता था। क्या व्यापारियों और दुकानदारों ने अपनी संलग्नता को नए मंदिर-आंदोलन की ओर मोड़ दिया था? और क्या उन्हें किसी वैचारिक आश्रय (सहारे) की जरूरत नहीं थी? इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि व्यापारियों और उनकी सभाएं (नागरम्) का भूमि पर नियंत्रण था और इसकी कृषि पैदावार में भी रुचि थी। आगे, क्या मंदिरों ने जन-साधारण और पुरोहित वर्ग के बीच भाषा और कर्मकाण्डों के अवरोध खड़े नहीं करने चाहे? यदि विचारधारा को सामान्यता वर्ग-संघर्षों और विशेष रूप से शासक वर्ग के हितों के प्रक्रम में ही परखा जाए तो भक्ति की भूमिका को कैसे समझाया जा सकता है? यह दुविधा अन्य मुख्य उत्तर-गुप्त कालीन धार्मिक अभिव्यक्तियों के साथ भी रहेगी। समाज में धर्म की भूमिका को, विशेषतः एक विचारधारा के रूप में, जन-साधारण न कि वर्गों को प्रभावित करने की क्षमताओं के संदर्भ में देखना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) धर्म, विचारधारा और समाज के मध्य संबंधों की चर्चा कीजिए। 15 पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

2) उत्तर-गुप्तकालीन शताब्दियों में विचारधारा ने क्या भूमिका अदा की? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

3) कौन से कथन सही अथवा गलत हैं? सही (√) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए :

i) भक्ति, तंत्र-विज्ञान, धर्म-यात्रा आदि भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था का परिणाम थे।

ii) धार्मिक विचारों की समूहों, जैसे धर्मसंघों के निर्माण में कोई भूमिका नहीं थी।

iii) मार्क्स के अनुसार, "धर्म शोषित वर्ग की आह है।"

iv) मार्क्स ने नहीं कहा कि "धर्म जनता के लिए अफीम है।"

v) ब्राह्मण ग्रंथ पूर्व मध्यकाल में 400 तीर्थों का वर्णन करते हैं।

6.6 सारांश

यह इकाई तीन मुख्य विषयों से संबंधित थी, यथा विचारधारा के सैद्धांतिक आयाम, धर्म और विचारधारा एवं उनका समाज में स्थान तथा अंत में इन सबका सहस्राब्दि में विशिष्ट भारतीय परिवेश में अनुप्रयोग।

विचारधारा के सैद्धांतिक आयामों के महत्वपूर्ण पहलू बताते हैं:

- विचारधारा को परिभाषित करने में जटिलताएं,
- विचारधारा का इसकी प्रवृति और कार्यों के संदर्भ में तथा विचारधारा का एक राजनीतिक विश्वास संहति के रूप में, के मध्य अंतर;
- विचारधारा को एक ज्ञान की प्रणाली के रूप में मानने का यह आधार है कि सभी विचार, सभी ज्ञान और मानव समझ की क्षमताएं संवेदिक तथ्यों पर निर्भर करती हैं;
- समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, मार्क्स और एंगेल्स पर विशेष लक्ष्य करते हुए, विचारधारा पर आधारित लेखन की मुख्य अवस्थाएं;
- विचारधारा के मनो-सांस्कृतिक आयामों के आधारभूत पक्ष और उनकी समीक्षा; और
- विचारधाराओं द्वारा जनता की संघठित और जोड़-तोड़ करने की महत्वपूर्ण क्षमता।

धर्म और विचारधारा का समाज में स्थान से संबंधित भाग में ध्यान आकर्षित किया गया है :

- विचारधारा के विश्लेषण में नवीन अध्ययन का जो इसकी उन्नत व्याख्या करना चाहते हैं कि विचारधारा क्यों और कैसे एक विशेष रूप ग्रहण करती है तथा वह कार्य कैसे करती है; और
- विचारधारा की प्रकृति, भूमिका और कार्यों संबंधी कतिपय सवाल।

विचारधारा के सैद्धांतिक विवेचन से उठे मुद्दों को सहस्राब्दि के विशिष्ट भारतीय परिवेश में—हड़प्पाकाल से तेरहवीं शताब्दी तक लागू किया गया है। इस चर्चा के मुख्य बिन्दुओं में सम्मिलित हैं:

- धार्मिक विचारों की स्वायत्ता की परिकल्पना की खामियां,
- धर्म और विचारधारा को आधिपत्य तथा प्रभुत्व का क्षेत्र दिया जाना जरूरत से ज्यादा बढ़कर और अन्यायसंगत है,
- उत्तर गुप्त-शताब्दियों में भूमि-अनुदानों की पृष्ठभूमि; और
- धर्म की, विशेष रूप से एक विचारधारा के रूप में, समाज में भूमिका के अध्ययन की आवश्यकता, इसकी जन-साधारण को न कि वर्गों को प्रभावित करने की क्षमताएं।

6.7 शब्दावली

आदियान : दास

अलवार : वैष्णव संत

महापताका : बड़ा पापकर्ता

मंडप : महल/मंदिर में मंडप

नयनार : शैव संत

प्रकारा : महल/मंदिर का परकोटा

राजसूय : एक वैदिक बलिदान

उदयार : ईश्वर/मालिक

विरागल : वीर-स्तम्भ

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ये कबीलों, गुफाओं, बाज़ारों और नाट्यशालाओं की मूर्तियां हैं। देखें उपभाग 6.2.1
2) उपभाग 6.2.2 के आधार पर अपना उत्तर दीजिए।
3) उपभाग 6.2.2 के आधार पर अपना उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) अपने उत्तर को मार्क्स, वेल्हर और गीर्ज़ के विचारों के आधार पर दीजिए।
2) भाग 6.5 और उसके उपभागों के आधार पर अपना उत्तर दीजिए।
3) i) √ ii) × iii) √ iv) × v) √